।। ओ३म् ।।

अथ सत्यार्थप्रकाशः

श्रीयुक्तदयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

दयाया आनन्दो विलसति परस्स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,
सको दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः।। १ ।।

सत्यार्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः।
वेदादिसत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः।। २ ।।

विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्त्विकीम्।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः।। ३।।

न ततः फलमस्ति हितं विदुषो,
ह्यधिकं परमं सुलभन्तु पदम्।
लभते सुयतो भवतीह सुखी,
कपटी सुसुखी भविता न सदा।। ४।।

धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरो-
ऽधर्मेणैव हतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः।
येनाऽसौ विधिवाक्यमाननमननात् पाखण्डखण्डः कृत-
स्सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्यन्योऽस्तु तादृग्घि सः।। ५।।[1]

●

१. ये श्लोक सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण की मूलप्रति में विषयसूची के पश्चात् लिखे हुये हैं। महर्षि दयानन्द के ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार श्लोक लिखने की शैली मिलती है। ये श्लोक प्रथम और द्वितीय संस्करण में प्रकाशित होने से रह गये थे, इसीलिये यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं।

ओ३म्

अथ सत्यार्थप्रकाशः

अथ प्रथम समुल्लासारम्भः

ओ३म्। शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः।

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ओ३म् शान्तिःशान्तिःशान्तिः। १।

अर्थ—**(ओ३म्)** जो यह ओंकार शब्द है वह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो **अ,** उ और म् तीन अक्षर हैं वे मिलकर एक **ओ३म्** समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे—अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि क्यों नहीं ? ब्रह्माण्ड, पृथिव्यादि भूत, मनुष्य, विद्वान् और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि ओषधियों के भी ये नाम लिखे हैं।

उत्तर—हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं।

प्रश्न—केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं ?

उत्तर—आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है ?

प्रश्न—देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं, इससे मैं उनका ग्रहण करता हूँ।

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है ? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते ? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध और उसके तुल्य कोई नहीं तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि इस आपके कहने में बहुत से दोष भी आते हैं, जैसे—**उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः** किसी ने किसी के लिये भोजन का पदार्थ रख के कहा कि आप भोजन कीजिये और वह जो उसको छोड़ के अप्राप्त भोजन के लिये जहाँ तहाँ भ्रमण करे उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिये। क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़ के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिये श्रम करता है। इसी से वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं वैसा ही आपका कथन हुआ। क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाणसिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थित अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं, इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं। "जो आप ऐसा कहें कि जहाँ जिसका प्रकरण है, वहाँ उसी का ग्रहण करना योग्य है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि **हे भृत्य! त्वं सैन्धवमानय** अर्थात् तू सैन्धव को ले आ। तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है, क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है, एक घोड़े और दूसरा लवण का। जो गमन का समय हो तो घोड़े और भोजन का काल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमनसमय में लवण और भोजनसमय

में घोड़े को ले आवे तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमनसमय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था ? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिये था उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण-विचार करना आवश्यक था यह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा।" इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ जिसका ग्रहण करना उचित हो वहां उसी अर्थ का ग्रहण करना उचित है। ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिये।

।। अथ मन्त्रार्थः ।।

ओं खम्ब्रह्म।। १।। —यजुर्वेद अध्याय ४०। मन्त्र १७।।

देखिये वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में **ओम्** आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।। २।। छान्दोग्य उपनिषत्

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानम्।। ३।।– माण्डूक्य।।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।। ४।। —कठोपनिषदि।।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्।। ५।।
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्।। ६।।

—मनुस्मृति अध्याय १२। श्लोक १२२-१२३।।

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।। ७।। —कैवल्य उपनिषत्।१।८।।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। ८।।

—ऋग्वेद मण्डल १। सूक्त १६४। मन्त्र ४६।।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः।। ९।। —यजुर्वेद अध्याय १३। मन्त्र १८।।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रो महा रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्य्यमरोचयत्।
१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १२
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः।। १०।।

—सामवेद (उ०) प्रपाठक ७। त्रिक ८। मन्त्र २।।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।। —अथर्ववेद काण्ड ११। प्रपा० २४। अ० २ । मं० १ ।।

अर्थ—यहां इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य्य वही है कि जो ऐसे-ऐसे प्रकरणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है लिख आये। तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।

ओम् आदि नाम सार्थक हैं। जैसे—(ओं खं०) **अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म** रक्षा करने से **ओम्**, आकाशवत् व्यापक होने से **खम्**, सबसे बड़ा होने से ईश्वर का नाम ब्रह्म है।। १।।

(ओमित्येत०) **ओ३म्** जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं।। २।।

(ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं।। ३।।

(सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्य्याश्रम करते हैं उसका नाम **ओम्** है।। ४।।

(प्रशासिता०) जो सब को शिक्षा देनेहारा सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परम पुरुष जानना चाहिये।। ५।।

और स्वप्रकाश होने से **अग्नि**, विज्ञानस्वरूप होने से **मनु** और सब का पालन करने से **प्रजापति** परमैश्वर्य्यवाला होने से **इन्द्र**, सब का जीवनमूल होने से **प्राण** और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम **ब्रह्म** है।। ६।।

(स ब्रह्मा स विष्णु०) सब जगत् के बनाने से **ब्रह्मा**, सर्वत्र व्यापक होने से **विष्णु**, दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से **रुद्र**, मङ्गलमय और सबका कल्याणकर्ता होने से **शिव, यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्। १। यः स्वयं राजते स स्वराट्। २। योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्ता स कालाग्निरीश्वरः। ३।** (अक्षर) जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, (स्वराट्) स्वयं प्रकाशस्वरूप और (कालाग्नि) प्रलय में सब का काल और काल का भी काल है, इसलिये परमेश्वर का नाम **कालाग्नि** है।। ७।।

(इन्द्रं मित्रं०) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। **द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः, शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः सुपर्णः, यो गुर्वात्मा स गरुत्मान् यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा।** (दिव्य) जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, (सुपर्ण) जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं,(गरुत्मान्) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, (मातरिश्वा) जो वायु के समान अनन्त बलवान् है, इसलिये परमात्मा के **दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्** और **मातरिश्वा** ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे।। ८।।

(भूमिरसि०) **भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः** जिसमें सब भूत प्राणी होते हैं इसलिये ईश्वर का नाम **भूमि** है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे।। ९।।

(इन्द्रो मह्ना०) इसमें **इन्द्र** परमेश्वर ही का नाम है इसलिये यह प्रमाण लिखा है।। १०।।

(प्राणाय०) जैसे प्राण के वश सब शरीर और इन्द्रियां होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है।। ११।।

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि **ओ३म्** और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण सूत्रादि ऋषि-मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है, परन्तु **ओ३म्** यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण

और विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन, सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहां-जहां ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। (यजुः ३१।५)।। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। (यजुः ३१।१२)।। तेन देवा अयजन्त।। (यजुः ३१।९) पश्चाद्भूमिमथो पुरः। (यजुः ३१।५)।।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।।

यह तैत्तिरीयोपनिषद् (२-१) का वचन है। ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं। इसी से यहाँ विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहाँ-जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों, वहीं-वहीं परमात्मा और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये। क्योंकि परमेश्वर का जन्म मरण कभी नहीं होता। इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं। अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे जानो।

अथ ओङ्कारार्थः।

वि उपसर्गपूर्वक (राजृ दीप्तौ) इस धातु से क्विप् प्रत्यय करने से **विराट्** शब्द सिद्ध होता है। **यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्** विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे, इससे **विराट्** नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

(अञ्चु गतिपूजनयोः) (अग, अगि, इण् गत्यर्थक) धातु हैं, इनसे **अग्नि** शब्द सिद्ध होता है। **गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, पूजनं नाम सत्कारः। योऽञ्चति, अच्यतेऽगत्यङ्गतीति वा सोऽयमग्निः** जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्ति होने और पूजा करने योग्य है, इससे परमेश्वर का नाम **अग्नि** है।

(विश प्रवेशने) इस धातु से **विश्व** शब्द सिद्ध होता है। **विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः** जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **विश्व** है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकारमात्रा से होता है।

ज्योतिर्वै हिरण्यं तेजो वै हिरण्यम् —इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे।।

यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः जिसमें सूर्यादि तेज वाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजः स्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम, उत्पत्ति और निवासस्थान है, इससे उस परमेश्वर का नाम **हिरण्यगर्भ** है। इसमें यजुर्वेद के मन्त्र का प्रमाण—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

इत्यादि स्थलों में **हिरण्यगर्भ** से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

(वा गतिगन्धनयोः) इस धातु से **वायु** शब्द सिद्ध होता है। (गन्धनं हिंसनम्) **यो वाति चराऽचरञ्जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः** जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करे और सब बलवानों से बलवान् है, इससे ईश्वर का नाम **वायु** है।

(तिज निशाने) इस धातु से **तेजः** और इससे तद्धित करने से **तैजस** शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयं प्रकाश और सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है इससे ईश्वर का नाम **तैजस** है। इत्यादि नामार्थ उकार से ग्रहण होते हैं।

(ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से **ईश्वरं** शब्द सिद्ध होता है। **य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः** जिनका सत्य, विचारशील, ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम **ईश्वर** है।

(दो अवखण्डने) = **अवखण्डनं नाम विनाशः** इस धातु से **अदिति** और इससे तद्धित करने से **आदित्य** शब्द सिद्ध होता है। **न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः** जिसका विनाश कभी न हो वही **आदित्य** संज्ञा ईश्वर की है।

(ज्ञा अवबोधने) **प्र** पूर्वक इस धातु से **प्रज्ञ** और इससे तद्धित करने से **प्राज्ञ** शब्द सिद्ध होता है। **यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः** जो निर्भ्रान्त ज्ञान युक्त सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है इससे **प्राज्ञ** ईश्वर का नाम है। इत्यादि नामार्थ मकार से गृहीत होते हैं। जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहां व्याख्यात किये हैं वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओङ्कार से जाने जाते हैं।

जो (शन्नो मित्रः शं व०) इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं वे भी परमेश्वर के हैं, क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो अपने गुण, कर्म्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सब से अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य न कोई हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है ? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ वा जीव पदार्थ के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण, कर्म्म, स्वभाव भी सत्य ही होते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सब को करना योग्य है। इसका विशेष विचार उपासना और मुक्ति के विषय में किया जायगा।

प्रश्न—मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये।

उत्तर—यहाँ उनका ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है।

(ञिमिदा स्नेहने) 'अस्माद धातोरौणादिकः क्त्रः प्रत्ययः।' इस धातु से औणादिक 'क्त्र' प्रत्यय के होने

से 'मित्र' शब्द सिद्ध होता है। **मेदते मिद्यते, स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः** जो सब से स्नेह करे और सब को प्रीति करने योग्य है, वह परमेश्वर सबका सच्चा **'मित्र'** है, इससे परमेश्वर का नाम **मित्र** है।

(वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि 'उनन्' प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। **यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः** जो आप्तयोगी, विद्वान्, मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्त्ता, अथवा जो शिष्ट, मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह 'वरुण' नामयुक्त ईश्वर है। अथवा **वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः** जिसलिये सब से श्रेष्ठ है, इसीलिए **वरुण** परमेश्वर का नाम है।

(ऋ गतिप्रापणयोः) इस धातु से 'यत्' प्रत्यय करने से 'अर्य्य' शब्द सिद्ध होता है और 'अर्य्य' पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होने से 'अर्य्यमा' शब्द सिद्ध होता है। **योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा** जो सत्य न्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य और पाप तथा पुण्य करने वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम **अर्यमा** है।

(इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से **'रन्'** प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः** जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इससे परमात्मा का नाम **इन्द्र** है।

'बृहत्' शब्दपूर्वक (पा रक्षणे) इस धातु से 'डति' प्रत्यय, बृहत् के तकार का लोप और सुडागम होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। **यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः** जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे परमेश्वर का नाम **बृहस्पति** है।

(विष्लृ व्याप्तौ) इस धातु से 'नु' प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। **वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः परमात्मा** चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **विष्णु** है।

उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः अनन्त पराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम 'उरुक्रम' है। जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त (मित्रः) सब का सुहृत् अविरोधी है वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) *सर्वोत्तम (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्यमा) शम् सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक,* वह (बृहस्पतिः) सब का अधिष्ठाता (शम्) विद्याप्रद और (विष्णुः) जो सब में व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा कल्याणकारक (भवतु) हो।

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) 'बृह, बृहि वृद्धौ' इन धातुओं से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध हुआ है। जो सब के ऊपर विराजमान, सब से बड़ा, अनन्तबलयुक्त परमात्मा है, उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! **(त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि)** आप ही अन्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो **(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)** मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा, क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सब को नित्य ही प्राप्त हैं **(ऋतं वदिष्यामि)** जो आप की वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है उसी का मैं सबके लिये उपदेश और आचरण भी करूँगा **(सत्यं वदिष्यामि)** सत्य बोलूं, सत्य मानूं और सत्य ही करूँगा **(तन्मामवतु)** सो आप मेरी रक्षा कीजिये **(तद्वक्तारमवतु)** सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिये कि जिससे आप की आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो। क्योंकि जो आप की आज्ञा है, वही धर्म और जो उससे विरुद्ध, वही अधर्म है **(अवतु मामवतु वक्तारम्)** यह दूसरी वार पाठ अधिकार्थ के लिये है। जैसे **कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ** इसमें दो वार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहाँ कि आप मेरी रक्षा अर्थात्

धर्म में सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करूँ ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये, मैं आपका बड़ा उपकार मानूंगा **(ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः)** इस में तीन वार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं–

एक **आध्यात्मिक** जो आत्मा, शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं।

दूसरा **आधिभौतिक** जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है।

तीसरा **आधिदैविक** अर्थात् जो अतिवृष्टि, अवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है।

इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिये। क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इसलिये आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिये कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़ के परमानन्द को प्राप्त हों और दुःखों से पृथक् रहें।

सूर्य्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी, चेतन और जङ्गम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, **तस्थुषः** अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सब के आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम **सूर्य्य** है।

(अत सातत्यगमने) इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध हुआ है। **योऽतति व्याप्नोति स आत्मा** जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। **परश्चासावात्मा च य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा** जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट और जीव, प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम **परमात्मा** है।

सामर्थ्यवाले का नाम ईश्वर है। **य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः** जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो, उसका नाम **परमेश्वर** है।

(षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने) इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। **अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः** जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **सविता** है।

(दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीडा) जो शुद्ध जगत् को क्रीडा कराने (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त (व्यवहार) सबको चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता (द्युति) स्वयंप्रकाशस्वरूप सब का प्रकाशक (स्तुति) प्रशंसा के योग्य (मोद) आप आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द देनेहारा (मद) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा (स्वप्न) सब के शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा (कान्ति) कामना के योग्य और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'देव' है। अथवा **यो दीव्यति क्रीडते स देवः** जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीडा करे अथवा किसी के सहाय के विना क्रीडावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता वा सब क्रीड़ाओं का आधार है। **विजिगीषते स देवः** जो सबका जीतनेहारा, स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके। **व्यवहारयति स देवः** जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जनाने और उपदेष्टा। **यश्चराचरं जगत् द्योतयति** जो सब का प्रकाशक। **यः स्तूयते स देवः** जो सब मनुष्यों को प्रशंसा के योग्य और निन्दा के योग्य न हो। **यो मोदयति स देवः** जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो। **यो माद्यति स देवः**

जो सदा हर्षित, शोक से रहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःखों से पृथक् रखने वाला। **यः स्वापयति स देवः** जो प्रलय समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता। **यः कामयते काम्यते वा स देवः** जिसके सब सत्य काम और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं। **यो गच्छति गम्यते वा स देवः** जो सब में प्राप्त और जानने के योग्य है, इससे परमेश्वर का नाम **देव** है।

(कुवि आच्छादने) इस धातु से **'कुबेर'** शब्द सिद्ध होता है। **य सर्वं कुम्बति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः** जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, उससे परमेश्वर का नाम **कुबेर** है।

(पृथु विस्तारे) इस धातु से **'पृथिवी'** शब्द सिद्ध होता है। **यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति तस्मात् स पृथिवी** जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है, इसलिये ईश्वर का नाम **पृथिवी** है।

(जल घातने) इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है, **जलति घातयति दुष्टान्, सङ्घातयति—अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्** जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा **जल** संज्ञक कहाता है। यद्वा **यज्जनयति लाति सकलं जगत् तद्ब्रह्म जलम्** अथवा जो सबका जनक और सब सुखों का देने वाला है, इसलिये भी परमात्मा का नाम **जल** है।

(काशृ दीप्तौ) इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है, **यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः** जो सब ओर से सब जगत् का प्रकाशक है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **आकाश** है।

(अद भक्षणे) इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।। (तै. उ. २।२)।।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोहमन्नादः।। —तैत्ति० उ० (३।१०)।।

अत्ता चराऽचरग्रहणात्।। (वे. सू.१।२।९।)। —यह व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र है।।

जो सबको भीतर रखने, सब को ग्रहण करने योग्य, चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला है, इससे ईश्वर के 'अन्न' 'अन्नाद' और 'अत्ता' नाम हैं। और जो इसमें तीन वार पाठ है सो आदर के लिये है। जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।

(वस निवासे) इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। **वसन्ति भूतानि यस्मिन्नथवा यः सर्वेषु भूतेषु वसति स वसुरीश्वरः** जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं और जो सब में वास कर रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **वसु** है।

(रुदिर् अश्रुविमोचने) रुदेर्णिलोपश्च *इस णिजन्त धातु से* **'रुद्र'** *शब्द सिद्ध होता है।* **यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः** जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे परमेश्वर का नाम **रुद्र** है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।।

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है।

जीव जिसका मन से ध्यान करता उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको करता, *उसी को प्राप्त होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा* ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करने वाले, ईश्वर की व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **रुद्र** है।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।

—मनुस्मृति अ० १श्लोक १०

जल का नाम **नारा** और **प्राण और जीवों** का नाम भी नारा है, वे **अयन** अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का **नाम नारायण** है।

(चदि आह्लादे) इस धातु से 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः** जो आनन्दस्वरूप और सब को आनन्द देने वाला है, इसलिये ईश्वर का **नाम चन्द्र** है।

(मगि गत्यर्थक) धातु से **मङ्गेरलच्** (उ. सू. ५।७०) इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। **यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः** जो आप मङ्गलस्वरूप और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **मङ्गल** है।

(बुध अवगमने) इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। **यो बुध्यते बोधयति वा सः बुधः** जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **बुध** है। **बृहस्पति** शब्द का अर्थ कर दिया।

(ईशुचिर् पूतीभावे) इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। **यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः** जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिये ईश्वर का नाम **शुक्र** है।

(चर गतिभक्षणयोः) इस धातु से 'शनैस्' अव्यय उपपद धर के 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध हुआ है। **यः शनैश्चरति स शनैश्चरः** जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम **शनैश्चर** है।

(रह त्यागे) इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता है। **यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति स राहुरीश्वरः** जो एकान्तस्वरूप जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम **राहु** है।

(कित निवासे रोगापनयने च) इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। **यश्चिकेतति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः** जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिये परमात्मा का नाम **केतु** है।

(यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। **यज्ञो वै विष्णुः —यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है।। यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः** जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा, इससे परमात्मा का नाम **यज्ञ** है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।

(हु दानाऽदनयोः, आदाने चेत्येके) इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। **यो जुहोति स होता** जो सब जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्य है, इससे ईश्वर का नाम **होता** है।

(बन्ध बन्धने) इससे 'बन्धु' शब्द बना है। **यः स्वस्मिन् चराचरं जगत् बध्नाति बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः** जिसने अपने में सब लोक-लोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खे और सहोदर के समान सहायक है, इसी से अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से **बन्धु** संज्ञक है।

(पा रक्षणे) इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। **यः पाति सर्वान् स पिता** जो सब का रक्षक जैसा पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति

चाहता है, इससे ईश्वर का नाम **पिता** है।

यः पितृणां पिता स पितामहः जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **पितामह** है।

यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः जो पिताओं के पितरों का पिता है, इससे परमेश्वर का नाम **प्रपितामह** है।

(माङ् माने शब्दे च) इससे माता शब्द बनता है। **यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता** जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है, वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे परमेश्वर का नाम **माता** है।

(चर गतिभक्षणयोः) आङ् पूर्वक इस धातु से 'आचार्य' शब्द सिद्ध होता है। **यः आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः** जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम **आचार्य** है।

(गृ शब्दे) इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। **यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।** योग सू. (१।२६) जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता है जो सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए परब्रह्म का नाम **गुरु** है।

(अज गतिक्षेपणयोः, जनी प्रादुर्भावे) इन धातुओं से 'अज' शब्द बना है। **योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जनयति कदाचिन्न जायते सोऽजः** जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, इससे ईश्वर का नाम **अज** है।

(बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है। **योऽखिलं जगन्निर्माणेन बृंहति वर्द्धयति स ब्रह्मा** जो सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **ब्रह्मा** है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१) का वचन है। **सन्तीति सन्तस्तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्। यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्। न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म** जो पदार्थ हों उनको सत् कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम **सत्य** है। जो सब का जानने वाला है, इसलिए परमेश्वर का नाम **ज्ञान** है। जिसका अन्त अवधि मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा-चौड़ा, छोटा या बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिये परमेश्वर के सत् ज्ञान और **अनन्त** नाम हैं।

(डुदाञ् दाने) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द और नञ्पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते।** (महाभाष्य १।१।५।२०) **न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः** जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको **आदि** कहते हैं, जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **अनादि** है।

(टुनदि समृद्धौ) आङ् पूर्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। **आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वा यः सर्वाञ्जीवानानन्दयति स आनन्दः** जो आनन्दस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम **आनन्द** है।

(अस भुवि) इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म** जो सदा वर्त्तमान अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को **सत्** कहते

हैं।

(चिती संज्ञाने) इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। **यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म** जो चेतनस्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्याऽसत्य का जनानेहारा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **चित्** है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर का नाम **सच्चिदानन्दस्वरूप** कहते हैं।

नित्य—**यो ध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः**। जो निश्चल अविनाशी है, सो 'नित्य' शब्दवाच्य **ईश्वर** है।

(शुन्ध शुद्धौ) इससे 'शुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः** जो स्वयं पवित्र सब अशुद्धियों से पृथक् और सबको शुद्ध करने वाला हैं, इससे ईश्वर का नाम **शुद्ध** है।

(बुध अवगमने) इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः** जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **बुद्ध** है।

(मुच्लृ मोचने) इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है। **यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः** जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिए परमात्मा का नाम **मुक्त** है। **अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः** इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है।

निर् और आङ् पूर्वक (डुकृञ् करणे) इस धातु से 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है। **निर्गत आकारात्स निराकारः** जिसका आकार कोई भी नहीं और न कभी शरीर धारण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **निराकार** है।

(अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु) इस धातु से 'अञ्जन' शब्द बना है और निर् उपसर्ग के योग से 'निरञ्जन' शब्द सिद्ध होता है। **अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद्यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः** जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे ईश्वर का नाम **निरञ्जन** है।

(गण संख्याने) इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है, इससे आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति' शब्द सिद्ध होते हैं। **ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा** जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **गणेश** और **गणपति** है।

यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः जो संसार का अधिष्ठाता है, उस परमेश्वर का नाम **विश्वेश्वर** है।

यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर का नाम **कूटस्थ** है।

जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही 'देवी' शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों के नाम हैं, जैसे—**ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति** जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव', जब चिति का होगा तब 'देवी' इससे ईश्वर का नाम **देवी** है।

(शक्लृ शक्तौ) इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। **यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः** जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिये परमेश्वर का नाम **शक्ति** है।

(श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। **यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः** जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम **श्री** है।

(लक्ष दर्शनाङ्कनयोः) इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। **यो लक्षयति पश्यत्यङ्कते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः** जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र, नासिकादि और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल, पृथिवी जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र-सूर्य्यादि चिह्न बनाता, तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा है और जो वेदादि शास्त्र, धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **लक्ष्मी** है।

(सृ गतौ) इस धातु से 'सरस्' उससे मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। **सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती** जिसको विविध विज्ञान, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम **सरस्वती** है।

सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः जो अपने कार्य करने में किसी अन्य के सहाय की इच्छा लेशमात्र भी नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है, इसलिये परमात्मा का नाम **सर्वशक्तिमान्** है।

(णीञ् प्रापणे) इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है। **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः** (वा. भा. १।१।१) यह वचन न्यायसूत्रों के ऊपर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य का है। **पक्षपातरहित्याचरणं न्यायः** जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो, तथा पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण न्याय कहाता है। **न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः** जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है, इससे ईश्वर का नाम **न्यायकारी** है।

(दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु) इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। **दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः** जो अभय का दाता, सत्याऽसत्य सर्व-विद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों का यथायोग्य दण्ड देने वाला है, इससे परमात्मा का नाम **दयालु** है।

द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता, द्वीतं वा, सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्। अर्थात् **सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म**—दो का होना, दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत, अर्थात् जो इनसे रहित है। सजातीय जैसा मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाले वृक्ष, पाषाणादि। स्वगत अर्थात् जैसे शरीर में आंख, नाक, कान आदि अवयवों का भेद है, वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर, विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे परमात्मा का नाम **अद्वैत** है।

गण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गुणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः जितने सत्त्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण, अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं उनसे जो पृथक् है। इनमें **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्** (क० उ० १।३।१५) इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम **निर्गुण** है।

यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः जो सबका ज्ञान, सर्वसुख, पवित्रता, अनन्तबलादि गुणों से युक्त है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'सगुण' है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से 'सगुण' और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण' और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है। अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सगुण और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण, वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से सगुण। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिये।

अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी जो सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके सबका नियम करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **अन्तर्यामी** है।

यो धर्म्मे राजते स धर्मराजः जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित, धर्म ही का प्रकाश करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **धर्म्मराज** है।

(यमु उपरमे) इस धातु से 'यम' शब्द बना है। **यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः** जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिये परमात्मा का नाम **यम** है।

(भज सेवायाम्) इस धातु से 'भग' इससे मतुप् होने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है। **भगः सकलैश्वर्य्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्** जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने के योग्य है, इसीलिये ईश्वर का नाम **भगवान्** है।

(मन ज्ञाने) इस धातु से 'मनु' शब्द बनता है। **यो मन्यते स मनुः** जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिये ईश्वर का नाम **मनु** है।

(पृ पालनपूरणयोः) इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। **यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः** जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **पुरुष** है।

(डुभृञ् धारणपोषणयोः) 'विश्व' पूर्वक इस धातु से 'विश्वम्भर' शब्द सिद्ध होता है। **यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः** जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **विश्वम्भर** है।

(कल संख्याने) इस धातु से 'काल' शब्द बना है। **कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः** जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **काल** है।

(शिष्लृ विशेषणे) इस धातु से 'शेष' शब्द सिद्ध होता है। **यः शिष्यते स शेषः** जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बाकी रहता है, इसलिये परमात्मा का नाम **शेष** है।

(आप्लृ व्याप्तौ) इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। **यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः** जो सत्योपदेशक सकलविद्यायुक्त, सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता है और धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य, छल-कपटादि से रहित है, इसलिये परमात्मा का नाम **आप्त** है।

(डुकृञ् करणे) 'शम्' पूर्वक इस धातु से 'शङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। **यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः** जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे 'शङ्कर' नाम ईश्वर का है।

'महत्' शब्द पूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' शब्द सिद्ध होता है। **यो महतां देवः स महादेवः**, जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिये परमात्मा का नाम

महादेव है।

(प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च) इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है। **यः प्रणाति प्रीयते वा स प्रियः** जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता और सब को कामना के योग्य है, इसलिये ईश्वर का नाम **प्रिय** है।

(भू सत्तायाम्) 'स्वयं' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। **यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः** जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे परमात्मा का नाम **स्वयम्भू** है।

(कु शब्दे) इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। **यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः** जो वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है, इसलिये परमेश्वर का नाम **कवि** है।

(शिवु कल्याणे) इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। **बहुलमेतन्निदर्शनम्** (धातुपाठे चुरादिगणे) इससे 'शिवु' धातु माना जाता है। जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिये परमात्मा का नाम **शिव** है।

ये शत नाम परमेश्वर के लिखे हैं। परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। ये मेरा लिखना समुद्र के सामने विन्दुवत् है। क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव व्याख्यात किये हैं, उनके पढ़ने-पढ़ाने से बोध हो सकता है। और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा हो सकता है, जो वेदादिशास्त्रों को पढ़ते हैं।

प्रश्न—जैसा अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं वैसे आपने कुछ भी न लिखा, न किया ?

उत्तर—ऐसा हमको करना योग्य नहीं। क्योंकि जो आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा तो उसके ग्रन्थ में आदि, मध्य और मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा। इसलिये—**मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति'** यह सांख्यशास्त्र (५।१) का वचन है।। इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना मंगलाचरण कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से ले के समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही मङ्गलाचरण है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिये महाशय महर्षियों के लेख को—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।। यह तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११) का वचन है। **हे सन्तानो! जो अनवद्य, अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं, वे ही तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं।**

इसलिये जो आधुनिक ग्रन्थ वा टीकाकारकों के **'श्रीगणेशाय नमः' 'सीतारामाभ्यां नमः' 'राधाकृष्णाभ्यां नमः' 'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः' 'हनुमते नमः' 'दुर्गायैनमः' 'वटुकाय नमः' 'भैरवाय नमः' 'शिवाय नमः' 'सरस्वत्यै नमः' 'नारायणाय नमः'** इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं। क्योंकि वेद और ऋषि, मुनियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता। और आर्ष ग्रन्थों में **ओ३म्** तथा **अथ** शब्द तो देखने में आता है। देखो—

अथ शब्दानुशासनम्। अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। यह व्याकरण महाभाष्य।

अथातो धर्मजिज्ञासा।। अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम्। यह पूर्वमीमांसा (१।१।१)

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः।

—यह वैशेषिक दर्शन(१।१।१)

अथ योगानुशासनम्। अथेत्ययमधिकारार्थः। यह योगशास्त्र (१।१)

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः। यह सांख्यशास्त्र

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। चतुष्टयसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्। यह वेदान्तसूत्र है (१।१।१)

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है (१।१।१)

ओमित्येतदक्षरमिद ꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। यह माण्डूक्योपनिषद् के आरम्भ का वचन है।।

ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में **ओ३म्** और **अथ** शब्द लिखे हैं, वैसे ही (अग्नि', इट्, **अग्नि,** 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति) ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं। **'श्रीगणेशाय नमः'** इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में 'हरिः ओम्' लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। केवल ओङ्कार का पाठ तो ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में देखने में आता है; **'हरि'** शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिये **ओ३म्** वा **अथ** शब्द ही ग्रन्थ की आदि में लिखना चाहिये। यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर के विषय में लिखा अब इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषित ईश्वरनामविषये प्रथमः समुल्लासः सम्पूर्णः।। १।।

●

अथ द्वितीयसमुल्लासारम्भः

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद। यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है।

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं कर सकता। इसीलिये (मातृमान्) अर्थात् **प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।** धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे।

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक नशादि पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रज-वीर्य्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हो। जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पांचवें दिवस से ले के सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है उन में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं, रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़ के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है। और रजोदर्शन के दिन से लेके १६वीं रात्रि के पश्चात् समागम न करना। पुनः जब तक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों कि जब दोनों का शरीर आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो। जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन-छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिये। पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त स्त्री पुरुष का सङ्ग न करे। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

जब जन्म हो तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान, नाड़ीछेदन करके सुगन्धियुक्त घृतादि का होम और स्त्री को भी स्नान, भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाय। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों। प्रसूता का दूध एक दिन वा छः दिन तक बालक को पिलावे। तदनन्तर धायी पिलाया करे। परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें। जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करानेहारी हों उनको शुद्ध जल में भिजा, औटा, छान के दूध के समान जल मिला के बालक को पिलावें। जन्मे पश्चात् बालक और बालक की माता को दूसरे स्थान कि जहाँ का वायु शुद्ध हो वहाँ के स्थान में रक्खें, सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें, और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहां का वायु शुद्ध हो, और जहां धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके। वहां जैसे उचित समझें वैसा करें। क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव समय निर्बल हो जाती है, उस समय उसके दूध में भी कम बल होता है, इसलिये प्रसूता

स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिए स्तन के छिद्र पर ओषधि का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसे करने से द्वितीय महीने में पुनरपि युवती हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रक्खे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि ही होती रहेगी कि जिससे सब सन्तान, उत्तम बल-पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक हों। स्त्री योनिसङ्कोच, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे वे भी सब उत्तम होंगे।

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगें तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न कि दोनों ओष्ठों को मिला कर बोलना, इसके विना शुद्धोच्चारण ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक नहीं बोल सकता। मधुर, गम्भीर, सुस्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न-भिन्न श्रवण होवे। जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें कि जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्सङ्ग में रुचि करता हो, वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श बिना निमित्त न करें, क्योंकि इसके स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता, हस्त में दुर्गन्ध भी होता है। इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें। जब पांच-पांच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्त्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहिकाने में न आवें। और जो-जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूत, प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्। प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति।। (मनु० ५-६५)।

अर्थ :—जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतकशरीर जिसका नाम **प्रेत** है उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। और जब उस शरीर का दाह हो चुका तब उसका नाम **भूत** होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों वर्त्तमान में आ के न रहें, वे भूतस्थ होने से उनका नाम **भूत** है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु जिसको शङ्का, कुसङ्ग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी, आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।

देखो ! जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था के सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है ? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीर और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं। उसका औषध सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख अनाचारी, स्वार्थी, भङ्गी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोङ्ग, छल-कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बांधते-बंधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश,

सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ा कर दुःख देते रहते हैं।

जब आंख के अंधे और गांठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि 'महाराज! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है ?" तब वे अन्धे और लुच्चे बोलते हैं कि "इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई है, जब तक तुम इसका उपाय न करोगे तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो तो हम मन्त्र जप पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें।" तब वे अंधे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि "महाराज ! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ परन्तु इनको अच्छा कर दीजिये।' तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त्त कहते हैं "अच्छा लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता की भेंट और ग्रहदान कराओ।" झांझ, मृदङ्ग, ढोल, थाली लेके उसके सामने बजाते, गाते हैं और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूद के कहता है कि मैं इसका प्राण ही ले लूंगा। तब वे अंधे उस भङ्गी, चमार आदि के भी पगों में पड़ के कहते हैं "आप जो चाहें सो लीजिये, इसको बचाइये।" तब वह धूर्त्त बोलता है "मैं हनुमान् हूं, लाओ मिठाई, तैल, सिन्दूर, सवामन का रोट और लाल-लङ्गोट।" "मैं देवी वा भैरव हूं, लाओ पांच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पांच बकरे, मिठाई और वस्त्र।" जब वे कहते हैं कि "जो चाहो सो लो" तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उसकी भेट पांच जूता, दंडा वा चपेटा, लात मारे तो उसका हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न हो कर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है।

और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जाके कहते हैं—"हे महाराज ! इसको क्या है ?" तब वे कहते हैं कि "इस पर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति, पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाय, नहीं तो बहुत पीड़ित और मर जाय तो भी आश्चर्य नहीं।"

उत्तर—कहिये ज्योतिर्वित् ! जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते, क्या ये चेतन हैं, जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?

प्रश्न—क्या जो यह संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है ?

उत्तर—नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिषशास्त्र झूठा है ?

उत्तर—नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणित विद्या है, वह सब सच्ची, जो फल की लीला है, वह सब झूठी है।

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है सो निष्फल है ?

उत्तर—हां, वह **जन्मपत्र** नहीं किन्तु उसका नाम **शोकपत्र** रखना चाहिये। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है। परन्तु तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुने। जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है तब उसके माता, पिता पुरोहित से कहते हैं—"महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइये" जो धनाढ्य हो तो बहुत सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है। तब उसके मां-बाप ज्योतिषी जी के सामने बैठ के कहते हैं "इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?" ज्योतिषी कहता है "जो है सो सुना देता हूं, इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्, जिस सभा में जा बैठेगा तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्यमान्य भी होगा।" इत्यादि बातें सुनके पिता आदि

बोलते हैं "वाह-वाह ज्योतिषीजी ! आप बहुत अच्छे हो।" ज्योतिषीजी समझते हैं इन बातों से कार्य्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि "ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु यह ग्रह क्रूर हैं। अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से ८वें वर्ष में इसका मृत्युयोग है।" इसको सुनके माता पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के शोकसागर में डूबकर ज्योतिषी जी से कहते हैं कि "महाराजजी ! अब हम क्या करें ?" तब ज्योतिषीजी कहते हैं "उपाय करो।" गृहस्थ पूछे—"क्या उपाय करें ?" ज्योतिषीजी कहते हैं कि "ऐसा-ऐसा दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जायें।" अनुमान शब्द इसलिये है कि जो मर जायगा तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं हैं, हमने तो बहुत सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय तो कहते हैं कि देखो, हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है ! तुम्हारे लड़के को बचा दिया। यहां यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जप, पाठ से कुछ न हो तो दूने-तिगुने रुपये उन धूर्त्तों से ले लेने चाहियें और बच जाय तो भी ले लेने चाहियें। क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि "इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी को नहीं", वैसे गृहस्थ भी कहें कि "यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है तुम्हारे करने से नहीं"। और तीसरे गुरु आदि भी पुण्य-दान कराके आप ले-लेते हैं तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था।

अब रह गई शीतला और मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोङ्ग मचाते हैं। कोई कहता है कि "जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र-यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते।" उनसे वही उत्तर देना चाहिये कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे ? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं और क्या तुम मरण से बच सकोगे ? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ाने वाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोड़ना चाहिये, और जितनी लीला, रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटण, वशीकरण आदि करना कहते हैं, उनको भी महापामर समझ लेना चाहिये। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़ के दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे "देखो ! जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण की यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संङ्ग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा, पूर्ण विद्या को प्राप्त करते हैं, वैसे तुम भी रह कर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होना। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम सुशिक्षा, विद्या के ग्रहण और वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करने वाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्या-ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।"

इस प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें, इसीलिये **मातृमान् पितृमान्** शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है। अर्थात् जन्म से पांचवें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे वर्ष से ८ वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९ में वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों, वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें। और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें। उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।।(८।१।१८)

अर्थ—जो माता, पिता और आचार्य्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं, और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भय-प्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें।

जैसी अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादकद्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें। क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक वार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उनके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिये, अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि "मैं तुम को वा तुम मुझ से अमुक समय में मिलूंगा वा मिलना अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूंगा" इसको वैसे ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीति कोई भी न करेगा। इसलिए सदा सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये। किसी को अभिमान करना योग्य नहीं, क्योंकि **अभिमानः श्रियं हन्ति** यह किसी कवि का वचन है। जो अभिमान अर्थात् अहङ्कार है, वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है, इसलिये अभिमान करना न चाहिये।

छल, कपट, वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है तो दूसरे की क्या कथा कहनी? छल और कपट उसको कहते हैं जो भीतर और, बाहर और, दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। **कृतघ्नता** उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिये उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उठ कर जा के उच्चासन पर बैठावे, प्रथम नमस्ते कहे। उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान में बैठे जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। प्रसन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संङ्ग और दुष्टों का त्याग, अपने माता, पिता और आचार्य की तन, मन से सेवा करे।

यान्यस्माकंꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।।—यह तैत्तिरीयोपनिषत् (१।११) का वचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि माता, पिता, आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन उन का ग्रहण करो और जो-जो दुष्ट कर्म हों,

उन-उनका त्याग कर दिया करो। जो-जो सत्य जाने उस-उसका प्रकाश और प्रचार करे। किसी पाखण्डी, दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करे और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिए माता-पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस-उस का पालन करे। जैसे माता-पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक, 'निघण्टु', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी', अथवा अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उन का पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें। जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार मानके उसकी उपासना करें। जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो उसी प्रकार भोजन, छादन और व्यवहार करें-करावें अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करे। मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें, क्योंकि जल-जन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख और जो तैरना न जाने तो डूब ही जा सकता है।

नवाविज्ञाते जलाशये (४।१२९) यह मनु का वचन है। अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत्।। मनु० (६।४६)।

अर्थ—नीचे दृष्टि कर ऊँचे-नीचे स्थान को देख के चले, वस्त्र से छान के जल पिये, सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये, हंसमध्ये बको यथा।।

यह किसी कवि का वचन है।

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण शत्रु हैं कि जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं कि जैसे हंसों के बीच में बगुला। यही माता-पिता का कर्त्तव्यकर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है कि जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना। यह बालशिक्षा में थोड़ा सा लिखा, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये द्वितीयः समुल्लासः सम्पूर्णः।। २।।

अथ तृतीयसमुल्लासारम्भः

अथाऽध्ययनाऽध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः।।

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चांदी, हीरा, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः।।

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता; सुन्दरशीलस्वभावयुक्त; सत्यभाषणादिनियमपालनयुक्त; और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता के नाशक; सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी-जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं। विना इसके किसी को शोभा प्राप्त नहीं होती।

इसलिये आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की शाला में भेज देवें। जो अध्यापक, पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्णविद्यायुक्त, धार्मिक हों। वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोश एक-दूसरे से दूर होनी चाहियें। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा नौकर-चाकर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहैं। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और लड़कों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी, जाने न पावे अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील—स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहै। सब को तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जायें तब उनके साथ अध्यापक रहैं, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।।—मनु० (७/१५२)

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़के, लड़कियों को घर में न रखके, पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय

हो। प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो। पिता, माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थसहित गायत्री मन्त्र का उपदेश कर दें। वह मन्त्र—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।। (यजु० ३६/३)

इस मन्त्र में जो **प्रथम ओङ्कार** है, उसका अर्थ प्रथमसमुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—**भूरिति वै प्राणः, यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः** जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। **भुवरित्यपानः, यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः** जो सब दुःखों से रहित, जिसके संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिये परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। **स्वरिति व्यानः, यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः** जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सब का धारण कर रहा है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक के हैं।

(सवितुः) **यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य** जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) **यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः** जो सर्वसुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) **वर्त्तुमर्हम्** स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्गः) **शुद्धस्वरुपम्** शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) धरेमहि धारण करें। किस प्रयोजन के लिये कि (यः) जो सविता देव परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ा कर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

'हे परमेश्वर ! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ! हे कृपानिधेन्यायकारिन्! हेअज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाधार सर्व-जगत्पितः सकलजगदुत्पादक ! हे अनादे विश्वम्भर सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यदों भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि दधीमहि धरमेहि ध्यायेम वा कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात् स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु। नातोऽन्यद्वस्तु भवतुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे।'

हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ; सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप; नित्य शुद्ध-नित्यबुद्ध-नित्यमुक्तस्वभाववाला; कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा; जन्ममरणादि क्लेशरहित, आकार विकार रहित, सब के घट-घट का जानने वाला, सबका धर्त्ता, पिता, उत्पादक; अनादि, विश्व का पोषण करनेहारा, सर्वव्यापक, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों को अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्म्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे, उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपेदश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें। प्रथम स्नान इसलिये है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि, आरोग्य आदि होते हैं। इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। (मनु. ५/१०९)

जल से शरीर के बाहर के अवयव; सत्याचरण से मन; विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट

भी सह के, धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा; ज्ञान अर्थात् पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि अर्थात् दृढ़निश्चय पवित्र होता है। इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना चाहिये।

दूसरा प्राणायाम। इसमें प्रमाण—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।। —यह योगशास्त्र का सूत्र है।।

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।

(मनु० ६/७१) यह मनुस्मृति का श्लोक है।।

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। प्राणायाम का विधिः—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योग सूत्र (१/३४)

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच के, वायु को बाहर फेंक दे। जब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे, तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को ले के फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में ओ३म् इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही प्राण को अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यन्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोके। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एकदम जहां-का-तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियें भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे। भोजन-छादन, बैठने-उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

सन्ध्योपासन, जिसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। 'आचमन' उतने जल को हथेली में ले के, पञ्जा के मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुंचे, न उससे अधिक, न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती हैं। पश्चात् 'मार्जन' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़कें, उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे। पुनः समन्त्रक प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान। पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे। पश्चात् 'अघमर्षण' अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः। सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।।

यह मनुस्मृति का वचन है।

जङ्गल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान हो के, जल के समीप स्थित हो के, नित्य कर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।

दूसरा देवयज्ञ—जो अग्निहोत्र, विद्वानों का संग सेवादि से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात-दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं। कम से कम एक घण्टा पर्यन्त ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे। दूसरा अग्निहोत्र कर्म-दोनों सन्धिवेला अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है। एक किसी धातु वा मट्टी की, ऊपर १२ वा १६ अंगुल चौकोण, उतनी ही गहिरी और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहे। उसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े छोटे करके रक्खे, उसके मध्य अग्नि रख के पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इन्धन रख दे। एक प्रोक्षणीपात्र

ऐसा और तीसरा प्रणीतापात्र 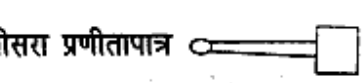 इस प्रकार का, और एक

इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र, और एक चमसा 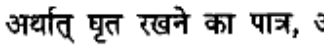 ऐसा सोने, चांदी वा काष्ठ का बनवा के प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रख के, घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिये है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है। पश्चात् उस घी को अच्छी प्रकार देख ले, देख के—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।। तै० उ० १/५ के आशय पर

अग्निहोत्र के इन प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आहुति देवे और जो अधिक आहुति देना हो तो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।। (यजु० ३०/३)

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवे। 'ओं' 'भूः' और 'प्राण' आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये।

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है ?

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख, और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य, और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—चन्दनादि घिस के किसी को लगावे, वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते। क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो ! जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न—जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा।

उत्तर—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक-शक्ति नहीं है। और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़ के होम करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायें और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें। वेदपुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ ! क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता (कराता) है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक; वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुखविशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिये, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है, इसलिये होम का करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और छः-छः माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिये, और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसीलिये आर्यवरशिरोमणि महाशय, ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, जो अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय। ये दो यज्ञ अर्थात् एक 'ब्रह्मयज्ञ' जो पढ़ना-पढ़ाना, संध्योपासन, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना। दूसरा 'देवयज्ञ' जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना। परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्यो वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।। (सु० १/२/५) यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है।

ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है। इस विधि के पश्चात् पांचवें या आठवें वर्ष से लड़के-लड़कों की पाठशाला में और कन्या-कन्याओं की पाठशाला में जावें और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।। (मनु० ३/१)

अर्थ—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त, अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिल के छत्तीस और आठ मिल के चवालीस, अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिल के छब्बीस, वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूर्ण ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं, चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति।। १।।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिन ꣳसवनमनुसन्ततुतेति *माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति।। २।।*

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिन ꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वंरोदयन्ति।। ३।।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्ततुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति।। ४।।

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि ततृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते।। ५।।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्ततुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति।। ६।।

यह छान्दोग्योपनिषद् (३/१६/१-६) का वचन है।

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। **कनिष्ठ, मध्यम** और **उत्तम**। उनमें से **कनिष्ठ**—जो यह पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करने वाला जीवात्मा; यज्ञ अर्थात् अतीव शुभगुणों से सङ्गत और सत्कर्त्तव्य है। इसको अवश्य है कि २४ वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे। और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास कराने वाले होते हैं।। १।।

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य से रहूँगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य, बलवान् होके शुभगुणों को बसाने वाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो ! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूं। २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूंगा और आयु भी मेरा ७० वा ८० वर्ष तक रहेगा।। २।।

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त हो के सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं।।३।।

जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं कुछ तपश्चर्या करूं, तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो ! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूं और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूं। जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो।। ४।।

उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे ४८ अक्षर की जगती, वैसे जो ४८

वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं।। ५।।

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।। ६।।

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति आषोडशाद्वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति।। (तुलना० - सु० १/३५/२६)

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्।। (सु० १/६५/१३)

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान का वचन है।

इस शरीर की चार अवस्था हैं। **एक वृद्धि,** जो १६ वें वर्ष से लेके २५ वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। **दूसरा यौवन,** जो २५ वें वर्ष के अन्त और २६ वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। **तीसरी सम्पूर्णता,** जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। **चौथी किञ्चित्परिहाणि,** जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेदादि द्वार से बाहर निकल जाता है। वही ४०वें वर्ष उत्तम समय विवाह का है, अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना।

प्रश्न—क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है ?

उत्तर—नहीं। जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या, जो पुरुष तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री १७ वर्ष, जो पुरुष छत्तीस वर्ष रहै तो स्त्री १८ वर्ष, जो पुरुष ४० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष, जो पुरुष ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष, जो पुरुष ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे, अर्थात् ४८वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये। परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है। और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें, परन्तु यह काम पूर्ण विद्या वाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभ के इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। यह तैत्तिरीयोपनिषद् (१।९) का वचन है।

ये पढ़ने-पढ़ाने वालों के नियम हैं। (ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्या को पढ़ें वा पढ़ावें (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते-पढ़ाते जायें (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जान के पढ़ते-पढ़ाते जायें और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें (अतिथयः०) अतिथियों

की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें (मानुषं०) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करके पढ़ते और पढ़ाते रहें (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें (प्रजन०) वीर्य्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।।

(मनु० ४/२०४)

यम पांच प्रकार के होते हैं—**तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।** (योगसूत्र (२/३०)

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग (सत्य) सत्य ही मानना, सत्य ही बोलना और सत्य ही करना (अस्तेय) अर्थात् मन, कर्म, वचन से चोरी त्याग (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमानरहित होना, इन **पांच यमों** का सेवन सदा करें।

नियम—**शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।** योग सूत्र (२/३२)

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना (तप) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना (ईश्वरप्रणिधान) ईश्वर की भक्तिविशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये **पांच नियम** कहाते हैं। यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता। किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।। मनु० (२/२)

अर्थ—अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता भी नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें। इसलिये—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।। (मनु० (२/२८)

अर्थ—(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (व्रत) ब्रह्मचर्य्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना ज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्याविज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर बनाना है। इतने साधनों से विना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्।। मनु० (२/८८)

अर्थ—जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खेंचने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे। क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्। सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।। मनु० (२/९३)

अर्थ—जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है; और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्।।

मनु० (२/९७)

जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।। १।।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्।। २।।

मनु० (२/१०५-१०६)

वेदादिशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्याय और निरोध अर्थात् अनुष्ठान = रुकावट नहीं होती क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता।। १।। जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्ध नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, न किसी दिन छोड़ना, क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है।। २।।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्।। मनु० (२/१२१)

जो सदा नम्र, सुशील, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है; उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल; ये चार सदा बढ़ते रहते हैं। और जो ऐसा नहीं करते, उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।। १।।

यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।। २।।

मनु० (२/१५६-१६०)

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपेदश करें; और उपदेष्टा सदा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे, वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे।। १।। जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं; वही सब वेदान्त सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है।। २।।

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।। मनु० (२/१६२)

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है; और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः। गुरौ वसन् सँञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः।। मनु० (२/१६४)

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। मनु० (२/१६८)

जो वेद को न पढ़ के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्रसहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः। शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।। १।।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्। कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्।। २।।
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्। स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।। ३।।
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्। कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः।।

मनु० (२।१७७-१८०)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा।। १।। अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष और नाच, गान, बाजा बजाना।। २।। द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें।। ३।। सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्य्य स्खलित कभी न करे। जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य्य-व्रत का नाश कर दिया।। ४।।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।। १।। देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि।। (२)।। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्।। ३।। ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन्। तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेश एष उपदेश एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।। (४)।। तैत्तिरीयोपनि० (१/११)

आचार्य्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से समस्त विद्याओं के ग्रहण और आचार्य्य के लिये प्रिय धन देकर, विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़। देव, विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिये। जब कभी तुझ को कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो; तो जो वे समदर्शी पक्षपातरहित, योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें वैसे तू उसमें वर्ता कर। यही आदेश आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी

प्रकार वर्तना और अपना चालचलन सुधारना चाहिये।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।

मनु० (२/४)

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच विकास होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है।

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च। तस्मादस्मिन्त्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः।।१।।
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्।। २।।

मनु० (१/१०८-१०९)

कहने, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहै।।१।। क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है, वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।। २।।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। मनु० (२/११)

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पङ्क्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिये। क्योंकि—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। मनु० (२/१२)

श्रुति=वेद; स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र; सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वरोक्त-प्रतिपादित कर्म्म; और अपने आत्मा में प्रिय, अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्यभाषण; ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। मनु० (२/१३)

जो पुरुष (अर्थ) सुवर्णादि रत्न और (काम) स्त्रीसेवनादि में नहीं फसे हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठाक नहीं होता।

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड छल कपट में फस के, विद्याभ्यास धर्म को छोड़ पाखण्ड ही में फस जाते हैं।

और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते

हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं, वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते, इसलिये वे पक्षपाती भी विद्याव्यवहार में नहीं हो सकते। और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्याव्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण ओर संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि ही होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये।

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पांच प्रकार से होती है—

एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हों, वह-वह **सत्य** और उससे विरुद्ध **असत्य** है।

दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह **सत्य** और जो-जो विरुद्ध है, वह सब **असत्य** है। जो कोई कहै—**बिना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ**, वह सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से असत्य है।

तीसरी—आप्त अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है, वह **ग्राह्य** और जो-जो विरुद्ध है वह-वह **अग्राह्य** है।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

और **पांचवीं**—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।

इनमें से प्रत्यक्ष के लक्षणादि में जो-जो नीचे सूत्र लिखेंगे, वे-वे सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।।

—न्याय० अध्याय १। आह्निक १। सूत्र ४।।

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको **प्रत्यक्ष** कहते हैं। परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह-वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि "तू जल ले आ" वह लाके उसके पास धर के बोला कि "यह जल है" परन्तु वहाँ 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा न लाने वा मंगवाने वाला देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम 'जल' है, वही प्रत्यक्ष होता है। और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्दप्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्बे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू देख के कहा कि "वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है" "वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त" जब तक एक निश्चय न हो, तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी को **प्रत्यक्ष** कहते हैं।

दूसरा अनुमान—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च।। —न्याय० अ० १। आ० १। सू० ५

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को **अनुमान** कहते हैं। जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह **अनुमान तीन प्रकार** का है। एक **पूर्ववत्** जैसे बद्दलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देख के विद्या होने का निश्चय होता है—इत्यादि। जहां-जहां कारण को देख के कार्य का ज्ञान हो, वह 'पूर्ववत्'। दूसरा **शेषवत्** अर्थात् जहां कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देख के ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देख के पिता का, सृष्टि को देख के अनादि कारण का, सृष्टि में रचनाविशेष देख के कर्त्ता ईश्वर का, पाप-पुण्य के आचरण देख के सुख-दुःख का ज्ञान होता है, इसी को **शेषवत्** कहते हैं। तीसरा **सामान्यतोदृष्ट** जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना; बिना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात् **प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्** जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो, जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

तीसरा उपमान—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।। न्याय अ० १। आ० १। सू० ६।।

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको **उपमान** कहते हैं। **उपमीयते येन तदुपमानम्** जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा कि "तू देवदत्त के सदृश विष्णुमित्र को बुला ला" वह बोला कि "मैंने उसको कभी नहीं देखा"। उसके स्वामी ने उससे कहा कि "जैसा यह देवदत्त है, वैसा ही वह विष्णुमित्र है;" "वा जैसी यह गाय है, वैसा गवय अर्थात् नीलगाय होती है"। जब वह वहां गया और देवदत्त के सदृश देखा, निश्चय जान लिया कि यही विष्णुमित्र है, उसको ले आया। अथवा किसी जङ्गल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको जान लिया कि इसी का नाम गवय है।

चौथा शब्दप्रमाणः—

आप्तोपदेशः शब्दः।। न्याय० अ० १। आ० १। सू० ७।।

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो। अर्थात् जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उसी को **शब्दप्रमाण** जानो।

पांचवां ऐतिह्य—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्।। —न्याय० अ० २। आ० २। सू० १।।

जो इति ह अर्थात् इस प्रकार का था; उसने इस प्रकार किया। अर्थात् किसी के जीवनचरित्र का नाम

ऐतिह्य है।

छठा अर्थापत्ति–

अर्थादापद्यते सा अर्थापतिः केनचिदुच्यते–**सत्सु घनेषु वृष्टिः, सति कारणे कार्य्यं भवतीति किमत्र प्रसज्यते–असत्सु घनेषु वृष्टिरसति कारणे च कार्य्यं न भवतीति** जैसे किसी ने किसी से कहा कि "बद्दल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य्य उत्पन्न होता है" इससे विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि 'विना बद्दल वर्षा और विना कारण कार्य कभी नहीं हो सकता।"

सातवां सम्भव–

सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः कोई कहे कि माता-पिता के संग के विना सन्तानोत्पत्ति, किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे और बन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया" इत्यादि सब असम्भव हैं। क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध हैं। और जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वही **सम्भव** है।

आठवां अभाव–

न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः जैसे किसी ने किसी से कहा कि "हाथी ले आ" उसने वहां हाथी का अभाव देख कर जहां हाथी था, वहां से ले आया।

ये **आठ प्रमाण**। इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं। इस पांच प्रकार की परीक्षा से सत्याऽसत्य का निश्चय मनुष्य कर सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।। —वै० अ० १। आ० १। सू० ४।।

जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर **साधर्म्य** अर्थात् जो तुल्य धर्म, जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़; **वैधर्म्य** अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल; इसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः पदार्थों के तत्वज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान से **निःश्रेयसम्** मोक्ष को प्राप्त होता है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। वै० अ० १। आ १। सू० ५।।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये **नव द्रव्य** हैं।

क्रियागुणवत्समवायिकारणमितिद्रव्यलक्षणम्।। वै०। अ० १। आ० १। सू० १५।।

क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्' जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहैं, उसको **द्रव्य** कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं। तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन गुणवाले तो हैं किन्तु क्रियावाले नहीं। (समवायि) **समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि, प्राग्वृत्तित्वं कारणं, समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्** जो मिलने के स्वभावयुक्त कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, जिससे क्रियागुणयुक्त हो, उसको **द्रव्य** कहते हैं। जिससे लक्ष्य जाना जाय, जैसा आंख से रूप जाना जाता है, उसको **लक्षण** कहते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी।। वै० अ० २। आ० १। सू० १।।

जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है वह **पृथिवी** कहाती है।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः।। वै०। अ० २। आ० २। सू० २।।

पृथिवी में गन्ध, गुण स्वाभाविक है। रूप, रस और स्पर्श, अग्नि, जल और वायु के योग से है, जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः।। वै०। अ० २। आ० १। सू० २।।

रूप, रस और स्पर्शवान्, द्रवीभूत और कोमल है, सो **जल** कहाता है। परन्तु स्वाभाविक गुण, जल का रस है। तथा रूप, स्पर्श अग्नि और वायु के योग से है।

अप्सु शीतता।। वै०। अ० २। आ० २। सू० ५।।

और जल में शीतलत्व भी गुण स्वाभाविक है।

तेजो रूपस्पर्शवत्। वै०। अ० २। आ० १। सू० ३।।

जो रूप और स्पर्शवाला है, वह **तेज** है। परन्तु इसमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है।

स्पर्शवान् वायुः।। वै०। अ० २। आ० १। सू० ४।।

स्पर्श गुणवाला **वायु** है। परन्तु इसमें भी उष्णता, शीतता, तेज और जल के योग से हैं।

त आकाशे न विद्यन्ते।। वै०। अ० २। आ० १। सू० ५।।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं हैं। किन्तु **शब्द** ही आकाश का गुण है।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।। वै०। अ० २। आ० १। सू० २०।।

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह **आकाश** का लिङ्ग है।

कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः।। वै०। अ० २। आ० १। सू० २५।।

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से शब्द; स्पर्शगुणवाले भूमि आदि का गुण नहीं है। किन्तु शब्द आकाश ही का गुण है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।। वै०। अ० २। आ० २। सू० ६।।

जिसमें अपर, पर, (युगपत्) एकवार, (चिरम्) विलम्ब, (क्षिप्रम्) शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसको **काल** कहते हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति।। वै०। अ० २। आ० २। सू० ६।।

जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसीलिये कारण में ही काल संज्ञा है।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्।। वै०। अ० २। आ० २। सू० १०।।

यहां से यह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे, जिसमें यह व्यवहार होता है, उसी को **दिशा** कहते हैं।

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची। वै०। अ० २। आ० २। सू० १४।।

जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा, उसको **पूर्व** दिशा कहते हैं। और जहां अस्त हो, उसको **पश्चिम,** पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर **दक्षिण** और बांई ओर **उत्तर** दिशा कहाती है।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि।। वै०। अ० २। आ० २। सू० १६।।

इससे जो पूर्व-दक्षिण के बीच दिशा है उस को **आग्नेयी,** दक्षिण-पश्चिम के बीच को **नैर्ऋति** पश्चिम-उत्तर के बीच को **वायवी** और उत्तर-पूर्व के बीच को **ऐशानी** दिशा कहते हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।। न्याय० अ० १। आ० १। सू० १०।।

जिसमें (इच्छा) राग, (द्वेष) वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ; सुख; दुःख; (ज्ञान) जानना गुण हों, वह जीवात्मा। वैशेषिक में इतना विशेष है–

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।।

वै०। अ० ३। आ० २। सू० ४।।

(प्राण) भीतर से वायु को निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना (निमेष) आंख को नीचे ढांकना (उन्मेष) आंख को ऊपर उठाना (जीवन) प्राण का धारण करना (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान (गति) यथेष्ट गमन करना (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों को ग्रहण करना (अन्तरविकार) क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब आत्मा के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।। न्या०। अ० १। आ० १। सू० १६।।

जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण, ज्ञान नहीं होता, उसको **मन** कहते हैं। यह द्रव्य का स्वरूप और लक्षण कहा। अब गुण कहते हैं–

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। वै०। अ० १ आ० १। सू० ६।।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द, ये **२४ गुण** कहाते हैं।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।। वै० अ० १। आ० १। सू० ६।।

गुण उसको कहते हैं कि जो द्रव्य के आश्रय रहै, अन्य गुण का धारण न करे, संयोग और विभागों में कारण न हो, (अनपेक्ष) अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा न करे, उनका नाम **गुण** है।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।। महाभाष्य (१/१/२/२)

जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति हो वह शब्द और जिसका बुद्धि से ग्रहण हो वह शब्द और जो प्रयोग से प्रकाशित हो वह शब्द और आकाश जिसका देश हो, वह भी **शब्द** कहाता है। नेत्र से जिसका ग्रहण हो वह **रूप**, जीभ से जिस मिष्टादि अनेक प्रकार का ग्रहण होता है वह **रस**, नासिका से जिसका ग्रहण हो वह **गन्ध**, त्वचा से जिसका ग्रहण होता है वह **स्पर्श**, एक द्वि इत्यादि संख्या = जिससे पदार्थों की गणना होती है, (परिमाण) जिससे तोल अर्थात् हल्की वा भारी विदित होता है, (पृथक्त्व) एक दूसरे से अलग, (संयोग) एक दूसरे के साथ मिलना, (विभाग) एक मिले हुए के अनेक टुकड़े होना, (परत्व) इससे यह परे है(अपर) उससे यह उरे है, (बुद्धि) ज्ञान, (सुख) आनन्द, (दुःख) क्लेश, (इच्छा) राग, (द्वेष) विरोध, वैर, (प्रयत्न) अनेक प्रकार का बल पुरुषार्थ, (गुरुत्व) भारीपन, (द्रवत्व) पिघल जाना, (स्नेह) प्रीति और चिकनापन, (संस्कार) दूसरे के योग से वासना का होना, (धर्म) न्यायाचरण और कठिनत्वादि, (अधर्म) अन्यायाचरण और कठिनता से विरुद्ध कोमलता, ये चौबीस २४ गुण हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।। वै०। अ० १। आ० १। सू० ७।।

(उत्क्षेपण) ऊपर को चेष्टा करना, (अवक्षेपण) नीचे की चेष्टा करना, (आकुञ्चन) सङ्कोच करना, (प्रसारण) फैलाना, (गमन) समभाग में गति करना अर्थात् चलना, आना-जाना, घूमना आदि होते हैं, इनको **कर्म** कहते

हैं। इनका लक्षण—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।। वै०। अ० १। आ० १। सू० १७।।

एकं द्रव्यमाश्रय आधारो यस्य तदेकद्रव्यं, न विद्यते गुणो यस्य यस्मिंस्तदगुणं, संयोगेषु विभागेषु चाऽपेक्षारहितं कारणं तत्कर्मलक्षणम् अथवा **यत् क्रियते तत्कर्म, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् कर्मणो लक्षणं कर्मलक्षणम्** एक द्रव्य के आश्रित, गुणों से रहित, संयोग और विभाग होने में अपेक्षारहित कारण हो, उसको **कर्म्म** कहते हैं।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्।। वै०। अ० १। आ० १। सू० १८।।

जो कार्य-द्रव्य, गुण और कर्म का कारण द्रव्य है, वह सामान्य द्रव्य है।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्य्यं सामान्यम्।। वै०। अ० १। आ० १। सू० २३।।

जो द्रव्यों का कार्य द्रव्य है, वह कार्यपन से सब कार्यों में सामान्य है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च।। वै०। अ० १। आ० २। सू० ५।।

द्रव्यों में द्रव्यपन, गुणों में गुणपन, कर्मों में कर्मपन ये सब 'सामान्य' और 'विशेष' कहाते हैं। क्योंकि द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य, और गुणत्व कर्मत्व से द्रव्यत्व विशेष है, इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।। वै०। अ० १। आ० २। सू० ३।।

सामान्य और विशेष, बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे—मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व सामान्य और पशुत्वादि से विशेष तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व इनमें ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। ब्राह्मण व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व सामान्य और क्षत्रियादि से विशेष है, इसी प्रकार सर्वत्र जानो।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।। वै०। अ० ७। आ० २। सू० २६।।

इसमें यह, जैसे द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति, अवयवों में अवयवी, कार्यों में कारण अर्थात् क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी, जाति व्यक्ति, कार्य्य कारण, अवयव अवयवी, इनका नित्य सम्बन्ध होने से **समवाय** कहाता है। और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह संयोग अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्।। वै०। अ० १। आ० १। सू० ६।।

जो समानजातीयक द्रव्य और गुण का कार्य्य का आरम्भ होता है, उसको **साधर्म्य** कहते हैं। जैसे पृथिवी में जड़त्व धर्म और घटादिकार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है, वैसे जल में भी जड़त्व और हिम आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ, पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है। अर्थात् **द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्** यह विदित हुआ कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य्य का आरम्भ है, उसको **वैधर्म्य** कहते हैं, जैसे पृथिवी में कठिनत्व, शुष्कत्व और गन्धवत्व धर्म जल से विरुद्ध और जल का द्रवत्व, कोमलता और रसगुणयुक्तपन पृथिवी से विरुद्ध है।

कारणाऽभावात्कार्याऽभावाः।। वै०। अ० १। आ० २। सू० १।।

कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता।

कारणभावात्कार्यभावः।। वै०। अ० ४। आ० १। सू० ३।।

कारण के होने ही से कार्य्य होता है।

न तु कार्यभावात्कारणाभावः।। वै०। अ० १। आ० २। सू० २।।

कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।। वै० अ० २। आ० १। सू० २४।।

जैसे कारण में गुण होते हैं, वैसे ही कार्य्य में होते हैं। परिमाण दो प्रकार का है–

अणुमहदिति तस्मिन्विशेषभावाद्विशेषाभावाच्च।। वै० अ० ७। आ० १। सू० ११।।

(अणु) सूक्ष्म (महत्) बड़ा, सापेक्ष है। जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्व्यणुक से बड़ा है, तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे, वृक्षों से बड़े हैं।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता।। वै० अ० १। आ० २। सू० ७।।

जो द्रव्य, गुण और कर्मों में सत् शब्द अन्वित रहता है, अर्थात् (सद् द्रव्यम्–सद् गुणः–सत्कर्म) सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म। अर्थात् वर्त्तमान कालवाची शब्द का अन्वय सब के साथ रहता है।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव।। वै० अ० १। आ० २। सू० ४।।

जो सब के साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है, सो **महासामान्य** कहाता है। यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है। और जो अभाव है, वह पांच प्रकार का होता है।

क्रियागुणव्यपदेशाभावात्प्रागसत्।। वै० अ० ९। आ० १। सू० १।।

क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के अभाव से प्राक् अर्थात् पूर्व (असत्) न था। जैसे घट, वस्त्रादि उत्पत्ति के पूर्व नहीं थे, इसका नाम **प्रागभाव**। दूसरा–

सदसत्।। वै० अ० ९। आ० १। सू० २।।

जो होके न रहै । जैसे घट उत्पन्न होके नष्ट हो जाय, यह **प्रध्वंसाभाव** कहाता है। तीसरा–

सच्चासत्।। वै० अ० ९। आ० १। सू० ४।।

जो होवे और न होवे। जैसे 'अगौरश्वोऽनश्वो गौः' यह घोड़ा गाय नहीं और यह गाय घोड़ा नहीं। अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव और गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव है। यह **अन्योऽन्याभाव** कहाता है। चौथा–

यच्चान्यदसदतस्तदसत्।। वै० अ० ९। आ० १। सू० ५।।

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है, उसको **अत्यन्ताभाव** कहते हैं। जैसे–'नरशृङ्ग' अर्थात् मनुष्य का सींग, 'खपुष्प' आकाश का फूल और 'बान्ध्यापुत्र' का पुत्र इत्यादि। पांचवां–

नास्ति घटो गेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः।। वै० अ० ९। आ० १। सू० १०।।

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है। **ये पांच अभाव** कहाते हैं।

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या।। वै० अ० ९। आ० २। सू० १०।।

इन्द्रियों के और संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।

तद्दुष्टं ज्ञानम्।। वै० अ० ९। आ० २। सू० ११।।

जो दुष्ट ज्ञान है अर्थात् विपरीत ज्ञान है, उसको **अविद्या** कहते हैं।

अदुष्टं विद्या।। वै० अ० ९। आ० २। सू० १२।।

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको **विद्या** कहते हैं।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च।। वै० अ० ७। आ० १। सू० २।।

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्।। वै० अ० ७। आ० १। सू० २३।।

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण हैं, ये सब द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं। और जो इससे कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में गन्धादि गुण हैं, वे नित्य हैं।

सदकारणवन्नित्यम्।। वै० अ० ४। आ० १। सू० १।।

जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो, वह नित्य है। अर्थात्—**सत्कारणवदनित्यम्** जो कारण वाले कार्यरूप द्रव्य गुण हैं, वे अनित्य कहाते हैं।

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।। वै० अ० ६। आ० २। सू० १।।

इसका यह, कार्य वा कारण है, इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि और विरोधि यह चार प्रकार का लैङ्गिक अर्थात् लिङ्ग-लिङ्गि के सम्बन्ध से ज्ञान होता है। 'समवायि' जैसे आकाश परिमाण वाला है, 'संयोगि' जैसे शरीर त्वचा वाला है, इत्यादि का नित्य संयोग है, 'एकार्थसमवायि' एक अर्थ में दो का रहना, जैसे कार्यरूप—स्पर्श कार्य का लिङ्ग अर्थात् जनाने वाला है, 'विरोधी'—जैसे हुई भई वृष्टि होने वाली वृष्टि का विरोधी लिङ्ग है।

व्याप्ति—**नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः।।**

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः।।

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः।। सांख्यशास्त्र—२६, ३१, ३२।।

जो दोनों साध्य साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाय उन दोनों अथवा एक, साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है, उसी को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि का सहचार है।।२६।। तथा व्याप्त जो धूम उसकी निज शक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है तब बिना अग्नि के योग के भी धूम स्वयं रहता है, उसी का नाम व्याप्ति है, अर्थात् अग्नि के छेदन, भेदन, सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है।। ३१।। जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता और बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है, जैसे शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है।। ३२।। इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढें और पढ़ावें। अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उस की पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो सत्य ठहरे, वह-वह ग्रन्थ पढ़ावें। जो-जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें। क्योंकि—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।। न्याय वा० भा० ३/१/२८

लक्षण जैसा कि गन्धवती पृथिवी जो पृथिवी है वह गन्धवाली है। ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण, इनसे सब सत्याऽसत्य और पदार्थ का निर्णय हो जाता है। इसके बिना कुछ भी नहीं होता।

अथ पठनपाठनविधिः।।

अब पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—प्रथम पाणिनिमुनिकृतशिक्षा जो कि सूत्ररूप है, उसकी रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है। जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करनी करण कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता, पिता, आचार्य सिखलावें। तदनन्तर व्याकरण अर्थात् प्रथम पाठ, जैसे **वृद्धिरादैच्** (अष्ट १/१/१) फिर पदच्छेद जैसे 'वृद्धिः, आत्, ऐच्', वा आदैच् फिर समास 'आच्च ऐच्च आदैच्', और अर्थ—**आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते** आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा है। **तः परो यस्मात्स तपरस्तादपि परस्तपरः** तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो, वह 'तपर' कहाता है। इससे सिद्ध हुआ जो आकार से परे त् और तकार से परे ऐच् दोनों तपर हैं।

उदाहरण (भागः) यहां 'भज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के परे 'घ्, ञ्' की इत्संज्ञा, लोप भकारस्थ अकार के स्थान में 'आ' वृद्धि हुई तो 'भाज्' पुनः 'ज्' को ग् हो अकार के साथ मिलके 'भागः' ऐसा प्रयोग हुआ।

'अध्यायः' यहां अधिपूर्वक 'इङ्' धातु के ह्रस्व के स्थान में 'घञ्' प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि हो, 'आय्' हो, मिल के 'अध्यायः'।

'नायकः' यहां 'नीञ्' धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में 'ण्वुल्' प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि हो, 'आय' मिल के नायकः'।

और 'स्तावकः' यहां 'स्तु' धातु से 'ण्वुल्', ह्रस्व उकार को 'औ' वृद्धि, 'आव्' आदेश होकर अकार में मिल गया तो 'स्तावकः'।

(कृञ्) धातु से आगे 'ण्वुल्', प्रत्यय उसके 'ण्, ल्' की इत्संज्ञा होके लोप, 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि होकर 'कारकः' सिद्ध हुआ। और जो-जो सूत्र आगे पीछे के, प्रयोग में लगें, उनका कार्य सब बतलाता जाय और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला-दिखला के कच्चा रूप धर के जैसे 'भज+घञ्+सु'। प्रथम धातु के अकार का लोप, पश्चात् घकार ञ् का लोप होकर 'भज्+अ+सु' ऐसा रहा, फिर 'भाग्+अ+सु', 'भाग+सु' फिर भागरूं, फिर भाग्र पुनः भागः। जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होना है, उस-उस को पढ़ के और लिख-लिखवा कर कार्य्य करता कराता जाय। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत दृढ़ बोध होता है।

एक बार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ा के धातुपाठ, अर्थ और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्यसूत्र जैसे—**कर्मण्यण्** (अष्टा०३/२/१) कर्म उपपद लगा हो तो धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो, जैसे **कुम्भकारः**। पश्चात् अपवाद सूत्र जैसे **आतोऽनुपसर्गे कः** (अष्टा०३/२/३) उपसर्गभिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होवे। अर्थात् जो बहुव्यापक जैसा कि कर्मोपपद लगा हो तो सब धातुओं से 'अण्' प्राप्त होता है, उससे विशेष अर्थात् अल्प विषय उसी पूर्व सूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को 'क' प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया, जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति होती है, वैसे अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवत्ति नहीं होती। जैसे चक्रवर्ती राजा के राज्य में माण्डलिक और भूमिदारों की प्रवृत्ति होती है, वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में चक्रवर्ती की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की विद्या प्रतिपादित करदी है।

धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ा के पुनः दूसरी बार शङ्का, समाधान, वार्त्तिक, कारिका, परिभाषा की घटनापर्वूक अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ावे। तदनन्तर महाभाष्य पढ़ावे। अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध होकर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता। और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्ष में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्ष में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय, मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है ! महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय

लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।

व्याकरण को पढ़ के यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें। तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीनों में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें। तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तम सभ्यता प्राप्ति हो, वैसे काव्यरीति अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य, विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें और विद्यार्थी लोग जानते जायें। इनको एक वर्ष के भीतर पढ़ लें।

तदनन्तर पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहां तक बन सके, वहां तक ऋषिकृत व्याख्यासहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें। परन्तु वेदान्त सूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेयी, तैत्तिरेयी, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़ के छः शास्त्रों के भाष्य वृत्तिसहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें। पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों के स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रियासहित पढ़ना योग्य है। इसमें प्रमाण—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। (निरुक्त १/१८)

यह निरुक्त में मन्त्र है। जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़ के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल, और अन्य पशु—धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है, और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त हो के देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। अ० मं० १०। सू० ७१। मं० ४।।

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते। और जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का जानने वाला है, उसके लिये विद्या—जैसे सुन्दर वस्त्र आभूषण धारती, अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपना शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है—वैसे विद्या विद्वान् के लिये अपना स्वरूप प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिये नहीं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। अ० मं० १। सू० १६४। मं० ३६।।

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख

को प्राप्त हो सकता है ? नहीं-नहीं किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा, योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिये जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो, वह अर्थज्ञानसहित चाहिये। इस प्रकार सब वेदों को पढ़ के, **आयुर्वेद** अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि मुनिप्रणीत वैद्यक शास्त्र है, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र-छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शारीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें।

तदनन्तर 'धनुर्वेद' अर्थात् जो राज्यसम्बन्धी काम करना है, इसके दो भेद—एक निज राजपुरुषसम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सभा, सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्रविद्या नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल कवायद कहते हैं जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो-जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीख के न्याय पूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रखें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड और श्रेष्ठों का पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें। इस राजविद्या को दो-दो वर्ष में सीख कर 'गान्धर्ववेद' कि जिसको गानविद्या कहते हैं, उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें, परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और नारदसंहिता आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ें परन्तु भडुवे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभशब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें, 'अर्थवेद' कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, गुण, विज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाश-पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है, उस विद्या को सीख के दो वर्ष में 'ज्योतिषशास्त्र' सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, उसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें। परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझ के कभी न पढ़ें और न पढ़ावें। ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहैं। जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्षों में हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शतवर्ष में भी नहीं हो सकती।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्य, गोतममुनिकृत न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत वृत्तिसहित पढ़ें-पढ़ावें, इत्यादि सूत्रों को कल्प अङ्ग में भी गिनना चाहिये। जैसे ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदों के अङ्ग; मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपाङ्ग; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद, इत्यादि सब ऋषि-मुनि के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उस को छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, 'स्वतःप्रमाण' अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ 'परतःप्रमाण' अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है। वेद की विशेष व्याख्या 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में देख लीजिये और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे।

अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं, उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है। अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे, वह-वह जालग्रन्थ समझना चाहिये। व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि। कोश में अमरकोशादि। छन्दोग्रन्थों में वृत्तरत्नाकरादि। शिक्षा में **अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा** इत्यादि। ज्योतिष में शीघ्रबोध, मुहूर्तचिन्तामणि आदि। काव्य में नायिका, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि। न्याय में जागदीशी आदि। योग में हठप्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि। वेदान्त में योगवासिष्ठ पञ्चदश्यादि। वैद्यक में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में एक मनु इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ अन्य सब स्मृति, सब तन्त्र ग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषा रामायण, रुक्मिणीमङ्गलादि और सर्वभाषाग्रन्थ, ये सब कपोलकल्पित मिथ्याग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है परन्तु इसके साथ बहुत सा असत्य भी है। इससे **विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः** जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या आप पुराण इतिहास को नहीं मानते ?

उत्तर—हां मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं, मिथ्या को नहीं।

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है ?

उत्तर—**ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति।।**

(तुलना—आश्व० गृ० सू० अ० ३। कं० ३। मं० १—२; तै० आ० प्रपा० २। अनु ६)।।

यह गृह्यसूत्रादि का वचन है। जो ऐतरेय,शतपथादि, ब्राह्मण लिख आये उन्हीं के इतिहास,पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पांच नाम हैं, श्रीमद्भागवतादि के नहीं।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उनका ग्रहण क्यों नहीं करते ?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि सत्य शास्त्रों का है, और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहैं तो मिथ्या भी उनके गले लिपट जावे। इसलिये **असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति** असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे छोड़ देना चाहिये, जैसे विषयुक्त अन्न को।

प्रश्न—तुम्हारा मत क्या है ?

उत्तर—वेद अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस को हम यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं। जिसलिये वेद हमको मान्य है, इसलिये हमारा मत वेद है। ऐसा ही मान कर सब मनुष्यों को, विशेष आर्य्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।

प्रश्न—जैसा सत्याऽसत्य और एक-दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है, वैसे अन्य शास्त्रों में भी है, जैसा सृष्टिविषय में छः शास्त्रों का विरोध है:—मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल, न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त शास्त्र ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है, क्या यह विरोध नहीं है?

उत्तर—नहीं, प्रथम तो बिना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी और इनमें विरोध भी नहीं, क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूं कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में?

प्रश्न—एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उसको विरोध कहते हैं, यहां भी सृष्टि एक ही विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो ? एक है। जो एक है तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों है ? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टि विद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मट्टी, विचार, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्हार कारण है वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है, उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य और निमित्तकारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है, इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधि-दान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं परन्तु सब का सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं, इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने कही है, इसीलिये इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टिप्रकरण में कहेंगे।

जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं, उनको छोड़ देवें। जैसा कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग; दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि; बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीस वर्षों से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना; राजा, माता,पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना; अतिभोजन, अतिजागरण करना; पढ़ने-पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना; सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना; ब्रह्मचर्य से वीर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़-मूर्त्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना; माता, पिता, अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्यमूर्त्ति मान कर सेवा और सत्संग न करना; वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कंठी, मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना; काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होने का विश्वास; पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना; विद्या, धर्म, योग परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्यापुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना; लोभ से धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में प्रीति न रखना; इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना, इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फस के ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकल के संप्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या सत्संग से हटा और अपने जाल में फसा के उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादिं विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो यह पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है, जैसा यह निषेध है : —

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः।। स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। और तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मंत्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय०।।

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चार वेदों की वाणी का (आ, वदानि उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो।

यहां कोई ऐसा **प्रश्न** करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि का नहीं।

उत्तर—(ब्रह्मराजन्याभ्यांश्च) इत्यादि। देखो ! परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों को छोड़ के दुःखों से छूट कर आनन्द को प्राप्त हों। कहिये ! अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की ? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह नास्तिक कहावेगा। क्योंकि **नास्तिको वेदनिन्दकः** (मनु० २। ११) वेदों का निन्दक और न मानने वाला **नास्तिक** कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे ? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र-इन्द्रिय क्यों रचता ? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सब के लिये प्रकाशित किये हैं। और जहां कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है। और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो! वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण :—

ब्रह्मचर्य्येण कन्यायुवं युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व० अनु० ३। प्र० २४। कां ० ११। मं० १८

जैसे लड़के ब्रह्मचर्यसेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि-शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे। इसलिये स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य। देखो ! श्रौतसूत्रादि में—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्।।

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके ? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह शतपथब्राह्मण (कां. १४) में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुरसंग्राम घर में मचा रहै, फिर सुख कहां? इसलिये जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्यों कर हो सकें तथा राजकार्य्य न्यायाधीशत्वादि, गृहाश्रम का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना, इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो ! आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं। क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकती और युद्ध कर सकती? इसलिये ब्राह्मणी को सब विद्या, क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्याविशेष, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये। जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या कम से कम अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे विना सत्याऽसत्य का निर्णय, पत्यादि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिये। वैसा करना कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्नपान बना और बनवाना नहीं कर सकती जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहैं। शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना-बनवाना, गणितविद्या के विना सब का हिसाब समझना-समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जान के अधर्म से कभी नहीं बच सके। इसलिये वे ही धन्य और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल बढ़ावें, जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म सें वर्तें। यही कोश अक्षय है, इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाय, अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग ले लेते हैं, और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश का, रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी है।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।। मनु० (७। १५२) ।।

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य्यकुल में रहैं। जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते। वार्यन्नगोमहीवाससतिलकाञ्चनसर्पिषाम्।। मनु (४। २३३) ।।

संसार में जितने दान हैं। अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिये जिससे जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में व्यय किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है। यह ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई है। इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते शिक्षाविषये तृतीयः समुल्लासः सम्पूर्णः।। ३।।

अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।१। मनु० (३। २)

जब यथावत् ब्रह्मचर्य आचार्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों वेद, तीन, दो वा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़ के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा।२। मनु० (३। ३)

जो यथावत् स्वधर्म अर्थात् जो आचार्य और शिष्य का है, उससे युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण, माला का धारण करने वाला, अपने पलङ्ग में बैठे हुए आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गो दे के सत्कृत करे।।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। ३।

मनु० (३। ४)

गुरु की आज्ञा ले, स्नान कर, गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आ के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने। ४।

मनु० (३। ५)

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है। इसका यह प्रयोजन है कि—

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।। शतपथ०।। (—तु०—श० ब्रा० ६। १। १। २; गो० ब्रा० पू० १। १)

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है, जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये। निकट में दोष और दूर विवाह करने में गुण ये हैं—

(१) **एक**—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) **दूसरा**—जैसे पानी में पानी मिलाने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) **तीसरा**—जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ-पितृ कुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) **चौथा**—जैसे एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूर-देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) **पांचवें**—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ

विवाह में नहीं।

(६) **छठे**—दूर-दूर देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं, इसीलिये—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति।। निरु. (३-४)।।

निरुक्त में लिखा है कि कन्या का नाम **दुहिता** इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट करने में नहीं।

(७) **सातवें**—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब-तब इसको कुछ न कुछ देना ही होगा।

(८) **आठवां**—कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने-अपने पितृकुल से सहाय का घमंड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी। एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी; क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है, इत्यादि कारणों से पिता के एकगोत्र, माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः। स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्। १।

मनु० (३/६)

चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाहसम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग करदे। १।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च। २।

मनु० (३/७)

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख-पृथक्, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, अथवा बवासीर, क्षयी=दम खांसी, आमाशय (अजीर्ण) मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह न होना चाहिये। क्योंकि वे सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये। २।

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटाञ्च पिङ्गलाम्।३।

मनु० (३/८)

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी चौड़ी अधिक बलवाली, न रोगयुक्त, न लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करने हारी और न भूरे नेत्रवाली।

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्। ४। मनु० (३।९)

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणी आदि नक्षत्र नामवाली; पीपल, वड़ आदि वृक्ष नामवाली; गङ्गा, जमुना आदि नदी नामवाली; चांडाली (पर्वत) विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि (पक्षी काकी, श्येनी आदि नागी, भुजंगा आदि दासी आदि और भीमा, भयंकारी काली, चण्डी आदि नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं। किन्तु

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्। ५।

मनु० (३। १०)

जिसके सरल सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध न हों; जिसका नाम सुन्दर हो अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि, हंस

और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो; सूक्ष्म लोम, केश और दांतयुक्त; और जिसके सब अङ्ग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये।

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौनसा अच्छा है ?

उत्तर—सोलहवें वर्ष से ले के चौबीसवें वर्ष तक कन्या और २५ पच्चीसवें वर्ष से ले के ४८ वें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री, तीस पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है जिस देश में इसी प्रकार विवाह का विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, *वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण रहित, बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है,* वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

प्रश्न—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला। १।

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।२।

ये श्लोक पाराशरी (७। ६, ८) और शीघ्रबोध (१। ५४, ६५) में लिखे हैं। अर्थ—कन्या की आठवें वर्ष विवाह में गौरी, नवें वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है।। १।। दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को माता, पिता और उसका बड़ा भाई ये तीनों देख के नरक में गिरते हैं।। २।।

उत्तर—

ब्रह्मोवाच—

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी। त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला।१।

माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका। सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।२।

—यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को क्षण कहते हैं। जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे क्षण में रोहिणी, तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला हो जाती है।।१।। उस रजस्वला को देख के उसके माता, पिता, भाई, मामा और बहन सब नरक को जाते हैं।।२।।

प्रश्न—ये श्लोक प्रमाण नहीं।

उत्तर—क्यों प्रमाण नहीं ? क्या जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

प्रश्न—वाह--वाह ! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते।

उत्तर—वाह जी वाह ! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते, पराशर काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं ? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते तो हम भी पराशर, काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

प्रश्न—तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं, क्योंकि सहस्रों क्षण जन्म समय ही में बीत जाते हैं तो विवाह कैसे हो सकता है ? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर—जो हमारे श्लोक असम्भव हैं तो तुम्हारे भी अशुद्ध हैं। क्योंकि आठ, नौ और दसवें वर्ष विवाह करना निष्फल है, क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व,

शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं। *जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गोरी कन्या न हो किन्तु काली हो, तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहणी वसुदेव की स्त्री थी, उसको तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है ? इसलिये तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं। क्योंकि जैसा हमने 'ब्रह्मोवाच' करके श्लोक बना लिये हैं, वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से अपने मतलब सिन्धु लोगों ने श्लोक बना लिये हैं। इसलिये इन सबका प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो। देखो ! मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्। मनु० (९-९०)

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह योग्य है, इससे पूर्व नहीं।

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्। मनु०।

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम, वा असदृशों का विवाह न होना योग्य है।

प्रश्न—विवाह करना माता-पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़का-लड़की के आधीन रहे ?

उत्तर—लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर कन्या का है, माता-पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है। और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।

मनु० (३-६०)

---

* उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरि जी सुश्रुत में निषेध करते हैं —

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।।१।।
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।।२।।

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में, पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता।।१।।

अथवा उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो। इस कारण से अतिबाल्यावस्थावाली स्त्री में गर्भ स्थापित न करे।।२।।

ऐसे-ऐसे शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि 16 वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं वे दुःखभागी होते हैं।

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहां विरोध, कलह होता है, वहां दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इनका मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख।

युवां सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्योऽ३ मनसा देवयन्तः। १। ऋ० मं० ३। सू० ८। मं० ४॥
आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्। २। ऋ० मं० ३। सू० ५५। मं० १६॥
पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं[10] जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः। ३। ऋ० मं० १। सू० १७९। मं० १॥

जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत ब्रह्मचर्य्यसेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ ब्रह्मचर्य्ययुक्त (युवा) पूर्ण जवान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में (आगात्) आता है (सः) वही दूसरे विद्याजन्म में(जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी (भवति) होता है, (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (मनसा) विज्ञान से (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तम्) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं और जो ब्रह्मचर्य्यधारण विद्या, उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये बिना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में अप्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। १।

जो (अप्रदुग्धाः) किसी ने दुही न हों, उन (धेनवः) गौओं के समान, (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित, (सबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी, (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लंघन करनेहारी (नव्यानव्याः) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण (भवन्तीः) वर्त्तमान, (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियां, (देवानाम्) ब्रह्मचर्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के, (एकम्) अद्वितीय, (महत्) बड़े, (असुरत्वम्) प्रज्ञाशास्त्रशिक्षायुक्त प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई जवान पतियों को प्राप्त होके (आधुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें। कभी भूल के भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें, क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश उससे अधिक स्त्री का नाश होता है।।२।।

जैसे (नु) शीघ्र (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष (पत्नीः) युवावस्थास्थ, हृदय को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र-पौत्रादि से संयुक्त रहते रहैं वैसे स्त्री पुरुष सदा वर्त्तें, जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरदृतुओं और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाली (उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं को (दोषाः) रात्री और (वस्तोः) दिन, (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन, बल और शोभा को (मिनाति) दूर कर देता है, वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त हो हीं के विवाह करूँ, इससे विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता।। ३।।

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा, आर्य्य-लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती जाती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।

प्रश्न—क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मणी-ब्राह्मण होता है और जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, वह कभी ब्राह्मण हो सकता है ?

उत्तर—हाँ, बहुत से हो गये, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञात कुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है, और वैसा ही आगे भी होगा।

प्रश्न—भला जो रज-वीर्य से शरीर हुआ है, वह बदल कर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—रज-वीर्य्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता। किन्तु—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।। मनु० (२। २८)

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं और यहाँ भी संक्षेप से करते हैं—(स्वाध्यायेन), पढ़ने पढ़ाने (जपैः) विचार करने-कराने, (होमैः) नानाविध होम के अनुष्ठान, (त्रैविद्येन) सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, (सुतैः) पूर्वोक्त विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादियज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्यकर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुष्टाचार छोड़, श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है। क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते?

उत्तर—मानते हैं।

प्रश्न—फिर क्यों रज-वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो ?

उत्तर—मैं अकेला नहीं मानता, किन्तु बहुत लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे ?

उत्तर—नहीं, परन्तु तुम्हारी उल्टी समझ को नहीं मान के खण्डन भी करते हैं।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त को परम्परा मानते हैं। देखो ! जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ अथवा दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़े हो। देखो ! मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते।। मनु० (४। १७८)

अर्थ—जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उनके मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि सत्पुरुष, धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता, इसको तुम मानते हो वा

नहीं ?

हाँ-हाँ मानते हैं।

और देखो ! जो परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उससे विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिए वा नहीं ?

अवश्य चाहिये।

जो ऐसा न माने, उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी आंखों को फोड़ डाले ? जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भी कुकर्म ही करे ? नहीं-नहीं, किन्तु जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सबको अत्यावश्यक है। जो कोई रज वीर्य के योग से वर्णाश्रम माने और गुणकर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान, हो गया हो, उसको ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।

प्रश्न—ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत।।

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र है। इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिये जैसे मुख, न बाहु आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि ब्राह्मण नहीं हो सकते।

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति आती है। जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते, जो मुखादि अङ्ग वाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं, वह सर्वशक्तिमान्, जगत का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य पापों को जान के व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता। इसलिये इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो, वह (ब्राह्मण) ब्राह्मण, (बाहू) — **बाहुर्वै बलं बाहुर्वैवीर्यम्** —शतपथब्राह्मण (तु०—६। २। ३। ३३; १३। १। ११। ५; ५। ३। ३। १७)। बल वीर्य्य का नाम बाहु है, वह जिनमें अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का (उरू) नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे, आवे, प्रवेश करे, वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के नीच अङ्ग के सदृश मूर्खतादि गुणवाला हो, वह शूद्र है। अन्यत्र शतपथ ब्राह्मणादि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे—

यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त। इत्यादि, (तु०—श० ब्रा० ६। १। १। १०; तै० सं० ७। १। १। ४)।।

जिससे ये मुख्य हैं इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है। अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाते हैं। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है। जैसा कि वन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना ! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण